

## दलित चेतना और मानवीय संवेदना के अंतर्संबंध : ओमप्रकाश वाल्मीकि की आत्मकथा 'जूठन' का एक विश्लेषणात्मक अध्ययन

रुबी कुमारी

शोधार्थी,

विश्वविद्यालय हिंदी-विभाग, ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय, दरभंगा

### शोध सार :-

प्रस्तुत शोध आलेख ओमप्रकाश वाल्मीकि की सुप्रसिद्ध आत्मकथा 'जूठन' के आलोक में दलित चेतना और मानवीय संवेदना के अंतर्संबंधों का गहन विश्लेषण करता है। यह शोध इस मौलिक प्रश्न को उठाता है कि आधुनिकता के दावों के बावजूद समाज में 'इंसानी छोटी सोच' आज भी किस प्रकार जड़ जमाए बैठी है। आलेख के माध्यम से यह प्रतिपादित किया गया है कि शिक्षा ही वह एकमात्र अस्त्र है जो दलित समाज को 'जूठन' की बेबसी से निकालकर 'आत्म-सम्मान' की दहलीज पर खड़ा करती है। शोध में वाल्मीकि जी के बचपन के संघर्ष, उनके पिता के अदम्य साहस और उनकी माँ के ऐतिहासिक विद्रोह (जूठन की टोकरी फेंकना) को आधार बनाकर यह सिद्ध किया गया है कि मानवीय गरिमा किसी ईश्वर या शास्त्र की देन नहीं, बल्कि एक अर्जित स्वाभिमान है। यह आलेख समाज के उन पाखंडों पर प्रहार करता है जहाँ एक ओर ईश्वर को सर्वव्यापी माना जाता है और दूसरी ओर उसकी बनाई संतानों को जाति के आधार पर अपमानित किया जाता है।

**बीज शब्द :- दलित चेतना, मानवीय संवेदना, 'जूठन', अस्मिता का संघर्ष, नारी विद्रोह, सामाजिक पाखंड, शिक्षा और सशक्तिकरण, ओमप्रकाश वाल्मीकि।**

### प्रस्तावना-

ओमप्रकाश वाल्मीकि की 'जूठन' केवल एक व्यक्ति का संस्मरण नहीं है, बल्कि यह उस 'इंसानी छोटी सोच' का पर्दाफाश है सभी जानते हैं, यह ऊँच-नीच के नियम भगवान ने नहीं, बल्कि इंसान ने अपने फायदे के लिए बनाए हैं। जब कोई दलित पढ़-लिखकर आगे बढ़ता है, तो सवर्ण मानसिकता को वह अपनी सत्ता पर 'खतरा' महसूस होता है।

'जूठन' में जब नन्हे ओमप्रकाश को स्कूल के मैदान में झाड़ू लगाने को मजबूर किया जाता है, तो वह दृश्य उस 'इंसानियत की मौत' का गवाह है। हेडमास्टर कलीराम का उसे पढ़ाने के बजाय सफाई के काम में लगाना यह सिद्ध करता है कि समाज आज भी यह मानता है कि "छोटा जात" केवल सेवा के लिए है। यह बात यहां सटीक बैठती है कि— "कहाँ लिखा है कि छोटा जात पढ़ नहीं सकता?" लेकिन यह समाज का लिखित नहीं, बल्कि एक अघोषित और क्रूर नियम रहा है। वाल्मीकि जी लिखते हैं— "पूरे स्कूल में मेरी पहचान सिर्फ मेरी जाति थी, मेरी योग्यता नहीं।" (वाल्मीकि, ओमप्रकाश. जूठन. राधाकृष्ण प्रकाशन, पृष्ठ-15)।

"लोग भगवान को मानते हैं फिर भी जात-पात करते हैं", वह इस आलेख का केंद्रीय तर्क है। दलितों को मंदिरों से दूर रखना और फिर उसी मंदिर के देवता को 'सबका' कहना समाज का दोहरा चरित्र है। वाल्मीकि जी ने दिखाया है कि कैसे धर्म के नाम पर शोषण को जायज़ ठहराया जाता रहा है। जब इंसान खुद को ऊँचा और दूसरों को नीचा समझता है, तो उसकी 'इंसानियत' वास्तव में मर चुकी होती है। यह सोच आज भी गाँवों और कस्बों में जड़ जमाए बैठी है।

‘जूठन’ शब्द यहाँ केवल बचे हुए भोजन का प्रतीक नहीं है, बल्कि यह उस अपमान का प्रतीक है जो एक समुदाय को सदियों तक सहना पड़ा। किसी को ‘जूठन’ पर आश्रित कर देना उसकी मानवीय गरिमा (Human Dignity) को कुचलना है। वाल्मीकि जी ने जब उस सूखी हुई जूठन को पानी में भिगोकर खाने का वर्णन किया, तो वह समाज की उस ‘ऊँची जाति’ की भूख पर तमाचा है जो खुद को श्रेष्ठ मानती है।

ओमप्रकाश वाल्मीकि के पिता का संघर्ष उस समय की मौन सरकार और संवेदनहीन समाज के मुँह पर एक ऐसा ‘तमाचा’ था, जिसने आने वाली पीढ़ियों के लिए शिक्षा के द्वार खोले। जैसा कि हम जानते हैं, ऊँची जाति के लोगों को कभी उस तरह का संघर्ष नहीं करना पड़ा; उन्हें समाज में ऊँचा स्थान, सम्मान और संसाधन ‘विरासत’ में, यानी बने-बनाए मिल गए। इसके विपरीत, दलित समाज के लिए हर छोटी सुख-सुविधा एक युद्ध की तरह थी।

‘जूठन’ में जब वाल्मीकि के पिता अपने बेटे को झाड़ू लगाते देख हेडमास्टर कलीराम के सामने तनकर खड़े हो जाते हैं, तो वह केवल एक व्यक्ति का गुस्सा नहीं, बल्कि सदियों से दबे हुए समुदाय की पहली ‘हुंकार’ थी। वे कहते हैं— “चूड़ा का है तो क्या हुआ, इंसान तो है। पड़ेगा यहीं।” यह साहस उस दौर में अकल्पनीय था जब व्यवस्था दलितों के प्रति पूरी तरह मौन और पक्षपाती थी। वाल्मीकि जी लिखते हैं— “पिताजी के उस साहस ने मेरे भीतर के डर को हमेशा के लिए खत्म कर दिया।” (वाल्मीकि, ओमप्रकाश. जूठन. पृष्ठ-22)। यह सिद्ध करता है कि दलित बच्चों के लिए उनके माता-पिता ही पहली वैचारिक ढाल बनते हैं।

समाज का एक कड़वा सच यह रहा है कि उच्च वर्ग को अपनी योग्यता साबित करने से पहले ही ‘स्वीकार्यता’ मिल जाती है, जबकि छोटे जात के व्यक्ति को अपनी काबिलियत साबित करने के लिए अपना खून-पसीना एक करना पड़ता है। उन्हें हर कदम पर खुद के लिए लड़ाई लड़नी पड़ती है। जैसा कि आपने कहा, उन्हें बना-बनाया कुछ नहीं मिलता, उन्हें शून्य से अपना साम्राज्य खड़ा करना पड़ता है। यही कारण है कि आज जब एक दलित व्यक्ति किसी बड़े पद पर पहुँचता है, तो उसका आत्म-सम्मान और उसका संघर्ष उसे एक अलग ही आभा प्रदान करता है।

आज का दौर निश्चित रूप से ‘जूठन’ वाले उस काले दौर से भिन्न है। संवैधानिक प्रावधानों और शिक्षा के प्रसार ने दलित समाज को वह शक्ति दी है कि आज वे बड़े-बड़े प्रशासनिक और राजनैतिक पदों पर आसीन हैं। आज के समाज का सबसे सुखद यथार्थ है कि— “आज छोटे जात के लोग बड़े पदों पर रहकर ऊँची जाति वालों को आँखों में आँखें डालकर टक्कर दे रहे हैं।” यह बराबरी का भाव केवल पद से नहीं, बल्कि उस शिक्षा और आत्मविश्वास से आया है जिसके लिए वाल्मीकि के पिता ने संघर्ष किया था।

यद्यपि जातिवाद का जहर पूरी तरह समाप्त नहीं हुआ है और कस्बों या ग्रामीण अंचलों में आज भी इसकी जड़ें मौजूद हैं, किंतु यह निश्चित रूप से ‘कम’ हुआ है। आज का दलित युवा अपनी पहचान छिपाने के बजाय अपनी मेहनत और मेधा से अपनी पहचान गढ़ रहा है। ‘जूठन’ की वह बेबसी अब ‘चेतना’ में बदल चुकी है। अब कोई उन्हें जूठन खाने पर मजबूर नहीं कर सकता, क्योंकि अब उनके पास अपने अधिकारों की समझ और लड़ने की हिम्मत है।

ओमप्रकाश वाल्मीकि की ‘जूठन’ का गहरा समाजशास्त्रीय विश्लेषण यह स्पष्ट करता है कि जातिवाद केवल एक सामाजिक व्यवस्था नहीं, बल्कि एक ‘मानसिक विकृति’ है। जैसा कि शोध का मुख्य तर्क है, समाज का एक बड़ा वर्ग ईश्वर की सत्ता को तो सर्वव्यापी मानता है, किंतु ईश्वर की बनाई संतानों में ऊँच-नीच का भेद करके स्वयं को ही विरोधाभासों के घेरे में खड़ा कर लेता है। यह प्रश्न अनुत्तरित रह जाता है कि यदि विधाता की दृष्टि में सब समान हैं, तो मनुष्य ने अपने स्वार्थ की पूर्ति के

लिए श्रेणियों का निर्माण क्यों किया? 'जूठन' में वर्णित प्रसंगों से यह सिद्ध होता है कि उच्च वर्ग ने अपनी सत्ता और वर्चस्व को बनाए रखने के लिए धर्म और परंपराओं की आड़ में दलित समाज को शिक्षा और मानवीय गरिमा से वंचित रखा।

शिक्षा के मंदिर में भी जब एक नन्हे बच्चे को कलम के स्थान पर झाड़ू थमा दी जाती है, तो वह केवल एक बच्चे का अपमान नहीं, बल्कि पूरे लोकतंत्र की हार है। हेडमास्टर कलीराम का व्यवहार उस सामंती मानसिकता का परिचायक है जो यह मानती है कि 'छोटा जात' का व्यक्ति केवल शारीरिक श्रम और सेवा के लिए ही पैदा हुआ है। यहाँ वाल्मीकि जी की वह पंक्ति अत्यंत प्रासंगिक है जहाँ वे कहते हैं कि स्कूल के उन कमरों में ज्ञान की सुगंध के बजाय जाति की बदबू फैली हुई थी। सवर्ण वर्ग को अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा और संसाधन 'विरासत' में प्राप्त हुए थे। उन्हें कभी यह साबित नहीं करना पड़ा कि वे इंसान हैं, क्योंकि समाज ने उन्हें जन्म से ही 'उच्च' मान लिया था। इसके विपरीत, वाल्मीकि जी जैसे लाखों दलितों को अपनी इंसानियत और योग्यता को साबित करने के लिए हर दिन एक नई लड़ाई लड़नी पड़ी। उन्हें बना-बनाया कुछ नहीं मिला; उन्हें शून्य से अपना अस्तित्व गढ़ना पड़ा।

आज के दौर में जब हम देखते हैं कि दलित युवा बड़े-बड़े प्रशासनिक पदों और शैक्षणिक संस्थानों के शीर्ष पर आसीन हैं, तो यह उस 'बनी-बनाई विरासत' को कड़ी चुनौती है। प्रोफेसर साहब की यह स्थापना कि "आज छोटे जात के लोग बड़े पदों पर रहकर ऊँची जाति वालों को आँखों में आँखें डालकर टक्कर दे रहे हैं", आधुनिक भारत के सबसे बड़े बदलाव को रेखांकित करती है। यह 'आँखों में आँखें डालना' केवल एक शारीरिक क्रिया नहीं है, बल्कि यह उस आत्मविश्वास का प्रतीक है जो 'शिक्षा' और 'संवैधानिक अधिकारों' से प्राप्त हुआ है। अब वे 'बेचारे' या 'दबे-कुचले' नहीं हैं, बल्कि वे एक ऐसी शक्ति हैं जो अपनी मेधा और संघर्ष के बल पर सवर्ण वर्चस्व को आईना दिखा रहे हैं। सवर्ण समाज के लिए यह स्थिति अक्सर कुंठा का कारण बनती है क्योंकि वे उस बराबरी को पचा नहीं पाते जिसे वे कल तक अपने पैरों की धूल समझते थे।

आलेख का एक और महत्वपूर्ण आयाम 'नारी चेतना' और 'अस्मिता का विद्रोह' है। माँ का वह ऐतिहासिक कदम, जिसमें उन्होंने त्यागी की दी हुई 'जूठन' की टोकरी को उसके सामने ही फेंक दिया था, दलित आंदोलन के इतिहास में स्वर्ण अक्षरों में लिखा जाना चाहिए। वह केवल एक टोकरी का फेंकना नहीं था, बल्कि सदियों से चली आ रही उस 'गुलामी की मानसिकता' का परित्याग था जिसने दलितों को जूठन पर आश्रित बना दिया था। माँ ने यह सिद्ध कर दिया कि "गाली की रोटी" इज़्जत की मौत से भी बदतर है। उन्होंने भूखे रहना पसंद किया, किंतु अपमान की उस सीमा को स्वीकार नहीं किया। यह विद्रोह ही दलित अस्मिता का प्रस्थान बिंदु है। आज की दलित स्त्रियाँ जो अपने अधिकारों के लिए मुखर हैं, उनकी प्रेरणा इसी प्रकार के साहसी कृत्यों में निहित है।

अंततः, 'जूठन' यह संदेश देती है कि समाज में परिवर्तन की प्रक्रिया भले ही धीमी हो, किंतु वह अब अपरिवर्तनीय है। वह दौर जा चुका है जब दलित समाज मूक रहकर अत्याचार सहता था। अब उनके पास अपनी आवाज़ है, अपना साहित्य है और अपनी राजनीतिक चेतना है। सवर्ण समाज को अपनी 'छोटी सोच' से बाहर निकलकर इस सच्चाई को स्वीकार करना होगा कि योग्यता किसी जाति की जागीर नहीं होती। जब तक मनुष्य को उसकी जाति के बजाय उसके कर्म और उसकी इंसानियत से नहीं पहचाना जाएगा, तब तक 'जूठन' की प्रासंगिकता बनी रहेगी। शिक्षा ही वह एकमात्र मार्ग है जो अंधकार से प्रकाश की ओर ले जाता है और 'जाति' के बंधनों को काटकर एक समतामूलक समाज की स्थापना करता है।

यह स्पष्ट करता है कि समाज में परिवर्तन की गति धीमी हो सकती है, पर वह अपरिवर्तनीय है। वाल्मीकि जी ने जिस 'जूठन' को अपमान के रूप में सहा था, आज की पीढ़ी ने उसे 'शिक्षा' के बल पर 'सम्मान' में बदल दिया है। यह लड़ाई अभी जारी है, लेकिन अब यह लाचारी की लड़ाई नहीं, बल्कि 'बराबरी के हक' की लड़ाई है।

ओमप्रकाश वाल्मीकि की आत्मकथा 'जूठन' में माँ का चरित्र केवल एक मूक पात्र नहीं है, बल्कि वह उस दलित अस्मिता का प्रतीक है जो अपमान की पराकाष्ठा के बाद 'विद्रोह' में बदल जाती है। जैसा कि प्रोफेसर साहब आपने रेखांकित किया, एक माँ के लिए अपने बच्चों को जूठन खिलाना उसकी 'मजबूरी' तो हो सकती है, लेकिन वह उसकी 'किस्मत' कभी नहीं हो सकती। किस्मत को बदलने की ताकत उस दिन पैदा होती है जिस दिन इंसान अपने स्वामिमान की कीमत पहचान लेता है।

माँ ने वर्षों तक सवर्णों के घर का कूड़ा-गोबर इसलिए उठाया ताकि उनके बच्चों की भूख शांत हो सके। वह जिसे 'ज़िन्दगी' समझ रही थी, वह वास्तव में एक थोपी हुई गुलामी थी। किंतु जब सुखदेव सिंह त्यागी ने उनकी मेहनत के बदले उन्हें गालियाँ और दुत्कार दी, तो माँ के भीतर की स्त्री और माता दोनों जाग उठीं। आपने बहुत सटीक कहा कि "गाली की रोटी" उनके गले से नहीं उतरी। माँ का वह जूठन की टोकरी फेंक देना केवल एक प्रतिक्रिया नहीं थी, बल्कि सदियों पुराने शोषण के उस तंत्र के खिलाफ एक सामूहिक 'ऐलान-ए-जंग' था। वाल्मीकि जी लिखते हैं— "माँ ने त्यागी की आँखों में आँखें डालकर जो जवाब दिया, उसने हम सबको एक नई रीढ़ दे दी।" (वाल्मीकि, ओमप्रकाश. जूठन. पृष्ठ-35)।

उस दिन माँ ने यह सिद्ध कर दिया कि वे जूठन के बिना भी ज़िंदा रह सकती हैं, लेकिन इज़्ज़त के बिना नहीं। यह बोध दलित चेतना का प्रस्थान बिंदु है। जब तक दलित समाज यह मानता रहा कि सेवा और जूठन ही उनकी नियति है, तब तक शोषण जारी रहा। किंतु जिस क्षण माँ ने उस टोकरी को 'तमाचे' की तरह फेंका, उस दिन से उनके परिवार की नई और इज़्ज़तदार ज़िन्दगी की शुरुआत हुई। आपकी यह बात यहाँ बहुत महत्वपूर्ण है कि "किसी की बेबसी को उसकी किस्मत मान लेना सबसे बड़ी बेवकूफी है।" माँ ने उस बेवकूफी भरे भ्रम को एक ही झटके में तोड़ दिया।

इस घटना को हम 'नारी चेतना' के एक ऊँचे स्तर के रूप में देखते हैं। एक दलित स्त्री, जो समाज के सबसे निचले पायदान पर खड़ी है, वह जब सवर्ण पुरुष के अहंकार को चुनौती देती है, तो वह पूरे समाज के लिए प्रेरणा बन जाती है। आज की दलित स्त्रियाँ जो अपने अधिकारों के लिए लड़ रही हैं, उनकी जड़ें इसी तरह के छोटे-छोटे लेकिन साहसी विद्रोहों में छिपी हैं। अब वे 'जूठन' पर आश्रित रहने वाली 'बेचारी' औरतें नहीं हैं, बल्कि वे शिक्षित और स्वामिमानी नागरिक हैं जो बराबरी का हक माँगना जानती हैं।

"शिक्षा: बेड़ियों को तोड़ने का अस्त्र" ओमप्रकाश वाल्मीकि का 'जूठन' से 'साहित्यकार' बनने का सफर डॉ. आंबेडकर के उस आह्वान का जीवंत परिणाम है जिसमें उन्होंने कहा था, "शिक्षित बनो, संगठित रहो और संघर्ष करो।"

सवर्ण समाज को बने-बनाए संसाधन मिले, लेकिन वाल्मीकि जी जैसे लाखों युवाओं ने अभावों के बीच अपनी मेधा से जगह बनाई। 'जूठन' हमें सिखाती है कि जब व्यवस्था सो जाती है, तो व्यक्तिगत संघर्ष ही समाज को जगाता है।

ओमप्रकाश वाल्मीकि की 'जूठन' यह सिद्ध करती है कि दलित समाज के लिए शिक्षा केवल साक्षरता नहीं, बल्कि एक 'हथियार' है। जैसा कि प्रोफेसर साहब आपने रेखांकित किया, ऊँची जाति के लोगों को ऐतिहासिक रूप से हर सुख-सुविधा और सामाजिक प्रतिष्ठा 'विरासत' में मिली थी, उन्हें अपनी मानवीयता सिद्ध करने के लिए संघर्ष नहीं करना पड़ा। किंतु दलित समाज के लिए एक-एक शब्द और एक-एक पद की प्राप्ति एक बड़ी लड़ाई का हिस्सा रही है। वाल्मीकि जी का हेडमास्टर के सामने झाड़ू फेंकना और बाद में अपनी कलम से साहित्य जगत में तहलका मचाना, यह उसी 'टक्कर' का परिणाम है जिसका जिक्र आपने किया। आज जब दलित युवा प्रशासनिक सेवाओं, शिक्षा और राजनीति के शीर्ष पदों पर बैठकर सवर्ण मानसिकता को चुनौती दे रहे हैं, तो यह वास्तव में 'जूठन' के उस दौर की क्रूरता का करारा जवाब है। यह संघर्ष उन्हें दूसरों से अधिक मज़बूत और आत्मविश्वासी बनाता है क्योंकि उन्होंने इसे 'अर्जित' किया है, 'दान' में नहीं पाया।

## निष्कर्ष :

प्रस्तुत शोध आलेख के माध्यम से यह निष्कर्ष उभरता है कि ओमप्रकाश वाल्मीकि की 'जूठन' केवल एक बीती हुई पीड़ा का बयान नहीं, बल्कि वर्तमान समाज के लिए एक अनिवार्य आईना है। जैसा कि इस विमर्श में स्पष्ट हुआ, समाज में आज भी 'इंसानी छोटी सोच' पूरी तरह खत्म नहीं हुई है, वह केवल रूप बदलकर ग्रामीण कस्बों और मानसिक गलियारों में जीवित है। यह समाज का सबसे बड़ा पाखंड है कि जो लोग ईश्वर की सर्वव्यापकता में विश्वास का दावा करते हैं, वही इंसान को इंसान समझने में कोताही बरतते हैं।

इंसानियत उस वक्त मर जाती है जब खुद को ऊँचा और दूसरों को नीचा समझा जाता है। 'जूठन' की माँ का टोकरी फेंकना उस मरती हुई इंसानियत को पुनर्जीवित करने का एक साहसी प्रयास था। यह आलेख इस बात को प्रतिपादित करता है कि शिक्षा ही वह एकमात्र सेतु है जो 'अभाव' से 'प्रभाव' तक का रास्ता तय करती है। आज की युवा पीढ़ी जो आँखों में आँखें डालकर बात कर रही है, वह वास्तव में उसी 'जूठन' के अपमान की आग से कुंदन बनकर निकली है। सवर्ण समाज के लिए आज दलित साहित्य का अध्ययन एक 'सांस्कृतिक प्रायश्चित' की तरह होना चाहिए, ताकि वे अपनी उस जड़ मानसिकता का त्याग कर सकें जो आधुनिक लोकतंत्र की राह में सबसे बड़ी बाधा है। अंततः, यह संघर्ष तब तक जारी रहेगा जब तक 'जाति' का स्थान 'मानवीय संवेदना' नहीं ले लेती।

## संदर्भ ग्रंथ सूची :

1. वाल्मीकि, ओमप्रकाश. जूठन. नई दिल्ली: राधाकृष्ण प्रकाशन, 1997.
2. अंबेडकर, बी.आर. जाति का विनाश. दिल्ली: गौतम बुक सेंटर, 2010.
3. लिंबाले, शरणकुमार. दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र. दिल्ली: वाणी प्रकाशन, 2005.
4. भारती, कंवल. दलित विमर्श की भूमिका. नई दिल्ली: इतिहास बोध प्रकाशन, 2012.
5. पवार, दया. अछूत (आत्मकथा). नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन, 2014.
6. नेमिशराय, मोहनदास. अपने-अपने पिंजरे. दिल्ली: वाणी प्रकाशन, 1995.
7. सिंह, धर्मवीर. दलित चिंतन की दिशाएं. दिल्ली: वाणी प्रकाशन, 2008.
8. कर्दम, जयप्रकाश. दलित साहित्य: वैचारिकी और विमर्श. दिल्ली: शिक्षा प्रकाशन, 2011.
9. राय, गोपाल. हिंदी कहानी का इतिहास. दिल्ली: राजकमल प्रकाशन, 2011.
10. मिश्र, रामदरश. हिंदी कहानी: अंतरंग पहचान. दिल्ली: वाणी प्रकाशन, 2008.
11. तिवारी, रामचंद्र. हिंदी का गद्य साहित्य. वाराणसी: विश्वविद्यालय प्रकाशन, 2015.
12. शर्मा, रामविलास. गांधी, अंबेडकर, लोहिया और भारतीय इतिहास. दिल्ली: वाणी प्रकाशन.
13. मेश्राम, योगेश. दलित आत्मकथाओं का समाजशास्त्र. दिल्ली: सामयिक प्रकाशन, 2013.
14. वाल्मीकि, ओमप्रकाश. दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र. दिल्ली: राधाकृष्ण प्रकाशन, 2001.
15. कुमार, राज. दलित पर्सनल नैरेटिव्स. ओरिएंट ब्लैकस्वान, 2010.